इतिहास से आती लालटेनों की मद्धिम रोशनियाँ

प्रफुल्ल कोलख्यान

'हम बचे रहेंगे' युवा कवि विमलेश त्रिपाठी का पहला संग्रह है। विमलेश त्रिपाठी की इन कविताओं को देखने से यह एहसास सहज ही जाता है कि हम एक खतरनाक समय में रहते हैं, हमारे समय में एक आदमी और उससे जुड़ा आम कवि निरंतर अपने बचे रहने के संशय में पड़ा रहता है। बचा रहना चाहे जितना भी मुश्किल हो लेकिन बचे रहने के संशय में निरंतर पड़ा रहना एक नकारात्मक बात है। तो क्या विमलेश त्रिपाठी की कविताओं में नकार का पूंज है! ऐसा नहीं है। क्योंकि आज का आदमी और आम आदमी का कवि न सिर्फ बचे रहने के संशय में पड़ा रहता है, बल्कि बचे रहने को संभव करते रहने के लिए लगातार संघर्षशील भी बना रहता है। बचे रहने की संभावनाओं को निरंतर सिरजते रहना ही आम आदमी के जीवन और आम आदमी की की कविताओं को नित्य संभावनाशील बनाये रखता है। यही संभवानाशीलता विमलेश त्रिपाठी की कविता को एक निजी वैशिष्ट्य और सामूहिक आकांक्षा से जोड़कर उल्लेखनीय बनाती है। विमलेश त्रिपाठी की कविता का भाषिक व्यवहार जहाँ एक ओर अपनी भौगोलिकता की निजी भंगिमा को अपने अंदर रचता रहता है वहीं दूसरी ओर अपने सपनों के भावाकाश में विचरते हुए कविता की सधी हुई जमीन पर अपने लौट आने को उसी तरह से संभव करता है जिस तरह से रात के चौथे पहर, पंछियों की नींद में धीरे-धीरे चेतना का घुलना संभव होता है।

'मंदिर की घंटियों की आवाज के साथ/ रात के चौथे पहर/ जैसे पंछियों की नींद को चेतना आती है।/ वैसे ही आऊँगा मैं।'[1] इन दिनों जब जीवन की समकालीनता का एक आयाम वैश्विक होने की जुगत में लगा हुआ है। दूसरा आयाम अपने निकृष्टतम अर्थों में स्थानिकता

की चपेट में आता जा रहा है। विमलेश त्रिपाठी की कविता में वैश्विकता और स्थानिकता के जुड़ाव के कोमल तंतुओं को बचाये रखने का प्रयास कविता के सपने के गर्भ में पड़े आदिम वीर्य को जीवन-क्षम बनाये रखने का प्रयास है। 'स्त्री थी वह सदियों पुरानी/ अपने गर्भ में पड़े आदिम वीर्य के मोह में/ उसने असंख्य समझौते किये/ मैं उसका लहू पीता रहा सदियों/ और दिन-ब-दिन और खूँखार होता रहा... '[2]। क्या यह सदियों पुरानी स्त्री कविता है! कौन बतायेगा! कहा जा सकता है कि विमलेश त्रिपाठी की कविताएँ स्थानिक होकर भी वैश्विक है या वैश्विक होकर भी स्थानिक है। सही बात तो यह है कि स्थानिक और वैश्विक, आत्मिक और अनात्मिक, मम और ममेतर एक साथ होकर ही कोई उक्ति काव्य की कोटि में आती है। डॉ. शंभुनाथ ने कविता पर चिंता व्यक्त करते हुए रेखांकित किया था कि 'कुछ कवियों को हिंदी में विश्व कविता लिखने का चस्का लग गया। जनता से संवाद करने का विचार लेकर कविता लिखने की आदत पहले ही छूट चुकी थी। उन्हें अच्छी तरह पता चल गया था कि हिंदी समाज में भजन-कीर्त्तन, नाच-तमाशा, खाने-पीने के संस्कार खूब हैं, पर काव्यात्मक संस्कार नदारद हैं। इसलिए सिर्फ कवियों से संवाद के उद्देश्य से कविता लिखने की प्रवृत्ति ने ऐसे कवियों में विश्व कविता लिखने की महत्त्वाकांक्षा भी पैदा कर दी। कविता के निजीकरण के साथ-साथ विश्वीकरण का उफान पैदा हुआ। पिछले पचास सालों की अच्छी कही जानेवाली हिंदी कविताओं में से एक बड़ा हिस्सा ऐसा है, जिनका भारतीय दुनिया की विशिष्टताओं और विडंबनाओं से कोई संबंध नहीं है।'[3] विमलेश त्रिपाठी की कविता डॉ. शंभुनाथ से सहमत लोगों की इस चिंता को पूरा नहीं भी तो थोड़ा कम अवश्य करती है। बचे रहने का खतरा सिर पर मँडरा रहा है। बचे रहने का खतरा जब सिर पर मँडराता है, कवि मंत्र की तरह बुदबुदाता है— हम बचे रहेंगे। बचे रहेंगे, सपनों में, बच्चों की मुस्कान में, प्रेमिका के चितवन में, पत्नी के आग्रह में, लगातार दूर होते जा रहे अपने होने के सपनों या फिर कवि के शब्दों में कहें तो 'हम बचे रहेंगे एक-दूसरे के आसमान में/ आसमानी सतरंगों की तरह'[4]।

मानव सभ्यता की लंबी यात्रा में, अबौद्धिकता का जोखिम उठाते हुए भी, सुकुमार सपनों का सनातन निवास कविता ही रही है। कविता में जीवन के यथार्थ के प्रति सलूक का अपना सलीका होता है। हमारे समय में इस सभ्यता विकास के साथ ही यथार्थ के प्रति प्रगतिशील आग्रह भी बढ़ा है, मोह भी बढ़ा है। मुश्किल यह है कि कविता में इस आग्रह के लिए कोई स्थान न हो तो उसकी सार्थकता नहीं बनती है और सपनों के सौकुमार्य का समावेश न हो

तो कविता खुद नहीं बचती है। कवि इस मुश्किल से कैसे पार पाये! कविता में यथार्थ को संरक्षित रखना और कविता में काव्यत्व को टिकाये रखना कवियों के सामने बड़ी चुनौती है। कवि की संभावनाशीलता इस तरह भी देखी जा सकती है कि वह इस चुनौती का सामना कैसे करता है! क्या उस दिहाड़ी मजूर की तरह जो जीवन के सौ-सौ पतझड़ों के बीच भी पी लेता है बसन्त के कुछ घूँट या उस औरत की तरह जो अँधेरे भुसौल घर में चिरकुट भर रह कर अपने सपने में महसूसती है एक अधेड़ बसन्त! कविता में देखें तो यही दिखेगा कि 'एक दिहाड़ी मजूर/ रगों के दर्द को भुलाने के लिए/ मटर के चिखने के साथ/ पीता है बसन्त के कुछ घूँट// एक औरत अँधेरे भुसौल घर में/ चिरकुट भर रह गयी बिअहुति / साड़ी को स्तन से चिपकाए/ महसूसती है एक अधेड़ बसन्त'[5]।

फ़ैज को कभी इस सवाल ने परेशान किया था कि 'ये हसीं खेत, फटा पड़ता है जोबन जिनका/ किसलिए इनमें फ़क़त भूख उगा करती है?'[6] सिलसिला जारी है और सवाल आज भी परेशान करता है कि गेहूँ की लहलहाती बालियों के बीच सरसों के फूल की तरह पियराये हुए किसान के चेहरे पर बसन्त के उल्लास के वेष में कोल्हू में पेरे जाने का दर्द किस तरह अपने को परकट करता है, क्यों 'गेहूँ की लहलहाती/ बालियों के बीच/ वह खड़ा है/ सरसों के फूल की तरह/ एकदम पियराया हुआ'[7]। वक्त बहुत तेजी से क्रूरता में ढल रहा है। ठहरकर सोचने की जरूरत है कि पीड़ा के किस भयावह दौर से गुजरकर यह अनुभूति कविता में दबे पाँव उतरने का साहस कर पाई होगी कि 'जितने समय में लिखता हूँ मैं एक शब्द/ उससे कम समय में/ मेरा बेरोजगार भाई आत्महत्या कर लेता है/ उससे भी कम समय में/ बहन 'औरत से धर्मशाला' में तब्तील हो जाती है।'[8] कितना भयावह होता है बेरोजगार भाई का आत्महत्या कर लेने पर मजबूर हो जाना, बहन का औरत से धर्मशाला में तब्दील हो जाना! इस भयावहता को शब्दों में व्यक्त करना या इसकी प्राथमिकी लिखना प्रशासन के लिए चाहे जैसा भी काम हो कविता के लिए तो यह सजा ही है! कविता सजा नहीं काटती है बल्कि इस सजा को काटती है, इस दुख को संवेदना का इंजन बनाती है और भरोसा दिलाती है कि 'यह दुख ही ले जाएगा/ खुशियों के मुहाने तक/ यही बचायेगा हर फरेब से/ होठों पे हँसी आने तक'[9]। क्योंकि अभी भी, 'धरती को स्वप्न की तरह देखने वाली आँख/ और लोकगीत की तरह गाने वाली आवाज से ही/ सुबह होती है/ और परिंदे पहली उड़ान भरते हैं।'[10] हाँ, अभी भी!

यह सच है कि कविता में दुख जब किसी 'वाद' के बोध के तहत आता है तो वह कुछ और होता है जैसा कि रघुबीर सहाय ने 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं में महसूस किया था और कविता में उसके प्रकट होने को देखा था कि 'इतना दुख मैं देख नहीं सकता ।// कितना अच्छा था छायावादी/ एक दुख लेकर वह एक गान देता था/ कितना कुशल था प्रगतिवादी/ हर दुख का करण वह पहचान लेता था/ कितना महान था गीतकार/ जो दुख के मारे अपनी जान लेता था/ कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में/ जहाँ मरता है सदा एक और मतदाता।' कहना न होगा कि विमलेश त्रिपाठी की कविता में दुख किसी 'वाद' के बोध के तहत नहीं आता है। विमलेश त्रिपाठी की कविता में दुख मतदाता-विमर्श का हिस्सा नहीं है। विमलेश त्रिपाठी की कविता में दुख कविता का नैसर्गिक नागरिक है। इसके बावजूद पत्रकार-कवि राजकिशोर का यह आग्रह बहुत गहरई से ध्यान देने योग्य है कि 'कवि जी ऐसा भी कुछ लिखिए/ जिसमें थोड़ा-खुश दिखिए// कठिन समय है क्रूर लोक है/ जिधर देखिए उधर शोक है/ लेकिन हमें डराते क्यों हैं रह-रह अश्रु बहाते क्यों हैं'।[11] यह संतोष की बात है कि विमलेश त्रिपाठी रह-रह अश्रु नहीं बहाते हैं। ऐसा बहुत कुछ है विमलेश त्रिपाठी की कविताओं में जो भरोसे के तंतु को बचाता है और विश्वास दिलाता है कि 'शेष है अभी भी/ धरती की कोख में/ प्रेम का आखिरी बीज'[12]। विमलेश त्रिपाठी की कविता में पुकार है कि 'और अब हमें/ अपनी-अपनी गहराइयों में लौटना है।'[13] इस पुकार पर विश्वास किया जाना चाहिए कि अपनी-अपनी गहराइयों में यह लौटना हताहत लौटना नहीं, सबके हिताहित को सोचता हुआ पूर्णतर लौटना है, क्योंकि यही कवि का वादा है कि 'हताहत नहीं/ सबके हिताहित को सोचता/ पूर्णतर लौटूँगा'[14]।

विशेष संदर्भः हम बचे रहेंगे (काव्य संकलन): विमलेश त्रिपाठी

संदर्भः

1. विमलेश त्रिपाठी: वैसे ही आऊँगा: हम बचे रहेंगे: नयी किताब, दिल्ली, 2011
2. विमलेश त्रिपाठी: स्त्री थी वह: हम बचे रहेंगे: नयी किताब, दिल्ली, 2011
3. डॉ. शंभुनाथ: कविता का पुनर्निर्माण: वर्त्तमान साहित्य शताब्दी कविता अंक
4. विमलेश त्रिपाठी: हम बचे रहेंगे: हम बचे रहेंगे: नयी किताब, दिल्ली, 2011

5. विमलेश त्रिपाठी: बसन्त: हम बचे रहेंगे: नयी किताब, दिल्ली, 2011
6. फ़ैज अहमद फ़ैज: मौज़ू-ए-सुख़न : प्रतिनिधि कविताएँ: राजकमल पेप बैक्स - 2003
7. विमलेश त्रिपाठी: किसान: हम बचे रहेंगे: नयी किताब, दिल्ली, 2011
8. विमलेश त्रिपाठी: कविता से लंबी उदासी: हम बचे रहेंगे : नयी किताब, दिल्ली, 2011
9. विमलेश त्रिपाठी : यह दुःख : हम बचे रहेंगे : नयी किताब, दिल्ली, 2011
10. एकांत श्रीवास्तव: जो कुरुक्षेत्र पार करते हैं: बीज से फूल तक: राजकमल प्रकाशन 2003
11. राजकिशोर: कवि से: पाप के दिन
12. विमलेश त्रिपाठी: भरोसे के तंतु: हम बचे रहेंगे: नयी किताब, दिल्ली, 2011
13. विमलेश त्रिपाठी: लौटना: हम बचे रहेंगे: नयी किताब, दिल्ली, 2011
14. कुँवर नारायण: कोई दूसरा नहीं: अबकी अगर लौटा तो

सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान